International Journal of Information Movement *Vol. 9 Issue VII* *(November 2024)*
Website: www.ijim.in *ISSN: 2456-0553 (online)* **Pages 32-36**

कैवल्य प्राप्ति में श्रीमद्भगवद्गीता में निहित ज्ञानयोग की उपादेयता

ज्योति पैन्यूली
शोधार्थिनी
योग विज्ञान विभाग
Email-id: jyotipainuly01@gmail.com

और
डॉ० ममता शर्मा
सहायक आचार्या
योग विज्ञान भाग, स्पर्श हिमालय विश्वविद्यालय, डोईवाला, देहरादून
Email-id: drmamtasharmarksh@gmail.com

सारांश
प्रायः सभी योग आत्मोत्थान के साधन माने जाते हैं। भगवद्गीता, उपनिषद्, वेद और अन्य शास्त्र चित्त या मन को वश में करने पर जोर देते हैं। गीता के अनुसार, ज्ञानयोग आत्म-तत्त्व की अमरता और देह-तत्त्व की नश्वरता को समझने का माध्यम है। यह आत्मा और परमात्मा के अद्वैत भाव को स्थापित करता है। ज्ञानयोग में भक्ति और ज्ञान का समन्वय आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों को नियंत्रित कर परम-तत्त्व में स्थिरता ज्ञानयोग का प्रमुख उद्देश्य है। संशय रहित, श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञानयोग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। गीता में इसे सबसे पवित्र मार्ग बताया गया है, जो व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से स्थायी शांति प्रदान करता है।

प्रमुख शब्द: ज्ञानयोग, आत्म-तत्त्व भगवद्गीता, तत्त्व-मीमांसा, संशय-निवारण, आत्मोत्थान, मोक्ष, भक्ति और ज्ञान चित्त और इन्द्रिय-नियंत्रण , त्रिगुणातीत अवस्था

1.0 प्रस्तावना
प्रायः जितने भी योग हैं, वे सभी आत्मोत्थान के साधन कहे गए हैं। और जिनका आत्मोत्थान हो गया, जिनकी आत्मा पर से अज्ञान का आवरण हट गया; तो विवेक प्राप्त होकर उन्हें परमात्मा का, कैवल्य का मार्ग मिल गया। समस्त ग्रन्थ चाहे वह गीता हो, उपनिषद् हो, पुराण हो, वेद हो अथवा योगशास्त्र हो; सभी में 'चित्त' अथवा 'मन' को वश में करने की बात कही गयी है।[i] इसलिए गीता भी कहती है कि जो साधक मन से इन्द्रियों को संयत रखकर अनासक्त बुद्धि और ज्ञान के द्वारा योग का आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ कहलाता है।[ii]

दर्शनशास्त्र के मुख्यतः तीन आधार-स्तम्भ माने जाते हैं- 'तत्त्व-मीमांसा, आचार-मीमांसा' तथा 'ज्ञान-मीमांसा'। ज्ञान-मीमांसा का स्थान 'आचार-मीमांसा' तथा 'तत्त्व-मीमांसा' के मध्यस्थ स्थित 'अनिकटता' को समाप्त कर 'आचार-मीमांसा' को 'तत्त्व-मीमांसा' के रूप में परिणत करके 'तत्त्व' में स्थिर करना है; क्योंकि केवल नित्य-नैमित्तिक-प्रायशचित्तोपासना आदि कर्म, तथा साधन-चतुष्टय सम्पन्न आचार से सम्यकतया तत्त्व-मीमांसा का ज्ञान नहीं होता, अर्थात् ब्रह्मतत्त्व का बोध नहीं होता है। ब्रह्मतत्त्व-जिज्ञासु

अथवा अधिकारी-व्यक्ति को तत्त्वरूप प्रमेयों की प्रमा तो ज्ञान मीमांसा से ही हो सकती है। और जब तक प्रमा नहीं होगी, तब तक मानवीय जीवन का निःश्रेयश् रूप जो लक्ष्य है, वह सिद्ध नहीं हो सकता। उस लक्ष्य की प्राप्ति निमित्त प्रमा का कारण रूप ज्ञान-मीमांसा का होना नितान्त आवश्यक है। अतः दर्शन जगत् की शास्त्रीय परम्परा में ज्ञान-मीमांसा अथवा ज्ञानयोग का स्थान सर्वोपरि है। 'ज्ञान-मीमांसा' अथवा 'ज्ञानयोग' के बिना दर्शनशास्त्र की 'गति' और 'दृष्टि' दोनों अवरुद्ध हो जाती है।

ज्ञान-तत्त्व का प्रधान सम्बन्ध आत्म-तत्त्व से है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को देह-तत्त्व की नश्वरता[iii] तथा आत्म-तत्त्व की अमरता[iv] का उपदेश देकर उसे आत्म-तत्त्व ज्ञानी बनाते हैं; क्योंकि जब तक मनुष्य को आत्म-तत्त्व नहीं होगा, मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? क्या हूँ? क्या करने आया हूँ? तथा क्षेत्र क्या है? क्षेत्रज्ञ क्या है? ज्ञेय क्या है? तब तक वह मनुष्य स्वध्येय में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अर्जुन स्वध्येय को विस्मृत कर चुका था। श्रीकृष्ण उसे कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग की त्रिवेणी द्वारा स्वलक्ष्य में नियोजित करने का अथक प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः शुद्ध सात्विक ज्ञान-तत्त्व के उदय होने से ही आत्म-तत्त्व शाश्वतिक सुख प्राप्त कर सकता है। यदि सात्विक ज्ञान का उदय नहीं होता तो अनेक मलिन कर्मों से दबा हुआ आत्मा भी मुक्त नहीं होता। इसीलिए इस श्रोत-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है कि "बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती।" गीता में आत्म-तत्त्व विषयक जितने भी साधन व्याख्यात हैं, उनसे ज्ञान का ही उदय होता है। अष्टांग योग में भी कहा गया है कि "योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश होता है, विवेकख्याति तक।"[v] वस्तुतः सत्कर्मों के पवित्रानुष्ठान के द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियों में पवित्रता आती है, जिससे शुद्ध-सात्विक ज्ञान का उदय होता है।

भगवद्गीता कहती है कि "इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरे साधर्म्य में आ पहुँचे हैं, वे सृष्टि की उत्पत्ति का समय आने पर भी जन्म नहीं लेते, सृष्टि का प्रलय होने पर भी दुःखी नहीं होते।"[vi] अर्थात् वह ज्ञान सात्विक, राजसिक तथा तामसिक गुणों के लक्षण, भेद, स्वरूप और पुरुष की त्रिगुणातीत अवस्था है, इस त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त होने वाले मनुष्य आवागमन के चक्र से रहित हो जाते हैं, वे परमात्म-तत्त्व का साधर्म्य पा जाते हैं। निष्कर्षतः ज्ञानयोग साधन-परम्परा का जो का मार्ग है, वह अभेदवाद है। अतः इसे अभेद भक्ति भी कह देते हैं। इस अभेदवाद में साधक विचार परम्परा का आश्रय लेता है तथा विचारों के द्वारा स्वयं को परमात्म-तत्त्व से अभिन्न मान लेता है। ज्ञान की नीरसता में भक्ति की सुरम्य झङ्कार जब अपना मधुर, दिव्य रस ज्ञान की नीरसता में घोल देती है तो यह केवल ज्ञान न रहकर ज्ञानयोग बन जाता है।

ज्ञानयोग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए गीता में कहा कि "निश्चय से ज्ञान के सदृश पवित्र और कोई वस्तु इस जगत् में नहीं है। इसको योगसिद्ध पुरुष आप ही समय पाकर अपने आत्मा में पा लेता है। अतः ज्ञान का प्रधान सम्बन्ध आत्मा से ही है।"[vii]

ज्ञान की प्राप्ति करना कोई खेल नहीं है कि कुछ पुस्तक पढ़ी और ज्ञानी हो गये, किन्तु ज्ञान प्राप्ति के निमित्त सर्वप्रथम 'शिष्यत्व', 'विनयत्व' तथा 'श्रद्धावान' होना अनिवार्य है। जिसके हृदय में 'गुरुकार्येषु श्रद्धा' की भावना नहीं है, परमात्म-तत्त्व के प्रति श्रद्धा नहीं हैं, वह ज्ञानयोग-गंगा में स्नान नहीं कर सकता। मानवीय जीवन यदि श्रद्धावान है तो वह ज्ञानवान बन सकता है। मानव 'हृषिकेश', 'गुडाकेश' तथा स्वयं को आत्म-केन्द्रित कर ज्ञानयोग की गंगा में डुबकी लगा सकता है।[viii]

मानव हृषिकेश, गुडाकेश तथा स्वयं को आत्म-केन्द्रित होकर संशयावस्था को त्याग कर श्रद्धावान हो जाता है। वह ज्ञानयोग के द्वारा लोक और परलोक दोनों में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है, परन्तु इसके विपरीत अज्ञानावच्छिन्न तथा संशयावच्छिन्न मानव के निहितार्थ लोक तथा परलोक अंधकारावेष्टित हो जाता है; वह श्रद्धाहीन, संशयग्रस्त नाश को ही प्राप्त होता है।[ix]

इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि "श्रद्धावान् तथा संशयानवच्छिन्न होकर आत्मज्ञानी बनो। आत्म-ज्ञानी पुरुष कर्मों में आबद्ध नहीं होते।"[x] स्वजनों के प्रति मोह का परित्याग कर समस्त संशयों को ज्ञानरूपी तलवार से नष्ट कर योग का आश्रय लो तथा संशय रहित होकर युद्ध करो;[xi] क्योंकि समस्त कर्म 'ज्ञान' में ही समाप्त हो जाते हैं[xii] तथा जो जिज्ञासु प्रणत, सेवाभावी तथा गुरुभक्त है; वह गुरु से तत्त्वज्ञान का उपदेश प्राप्त कर लेता है।[xiii] अतः चित्त को सर्वथा सर्वदा आत्मिकोत्थान में नियोजित कर आत्म-तत्त्व में स्थिर करना ज्ञानयोग कहलाता है। इससे आत्म-कल्याण विषयक समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। साधक ज्ञानयोग के माध्यम से तभी सफलता अर्जित कर सकता है, जब वह स्वयं को आत्म-केन्द्रित कर ले। उक्त विषय में उपनिषद् का भी मत है कि "जो श्रेष्ठ योगी ज्ञानयोग की साधना में मनोयोग पूर्वक संलग्न रहता है, वह कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता।"[xiv] कर्मयोग में कर्म की प्रवृत्ति है, परन्तु ज्ञानयोग में कर्मकाण्ड आदि का विधान नहीं होता। ज्ञानयोग का मुख्य आधार तत्त्वान्वेषण है। गीता में ज्ञानयोग को सांख्य या संन्यस्त योग कहा गया है। सांख्य शास्त्र में 24 तत्त्वों का वर्णन हैं। अतः योग साधक तत्वों का आश्रय लेकर, तत्त्व-चिन्तन तथा तत्त्वान्वेषण कर प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान (विवेक-ज्ञान से) को ज्ञात कर मोक्ष अर्थात् कैवल्य प्राप्त करता है; किन्तु गीता भी योग दर्शन की ही भांति एक ईश्वर (पुरुष विशेष) को भी स्वीकार करती है। जिसको परम पुरुष कहा गया है। यदि गीता परम-तत्त्व को अस्वीकार कर दे, तो परम-तत्त्व की प्राप्ति में सहायक प्रणिधान कहाँ से होगा?

अतः परम-तत्त्व प्राप्ति निमित्त मन तथा बुद्धि से कर्म किये जाने चाहिये। यदि मन तथा बुद्धि परम-तत्त्व विषयक विचारों में निमग्न रहें तो स्वाभाविक रुप से इन्द्रियाँ भी परम-तत्त्व की सेवा में प्रस्तुत रहेंगी; क्योंकि ज्ञानी मनुष्य कर्मों में आबद्ध होता। इन्द्रियों के द्वारा कृत कर्मों का सर्वथा त्याग ही ज्ञानयोग है,[xv] क्योंकि जिसके समस्त उद्योग फलाकांक्षा से रहित होते हैं, विज्ञ-जन उस ज्ञानाग्नि से कर्मों को दग्ध कर देने वाले पुरुष को पण्डित कहते हैं।[xvi] अतः उक्त ज्ञान के सदृश पवित्रतम अथवा पवित्र करने वाला निःसन्देह अन्य कुछ भी नहीं हैं। ज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति की प्राप्ति होती है। गीता में कहा कि "तत्त्वज्ञ अर्थात् ज्ञानयोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, सब इन्द्रियाँ अपने में बरत रही हैं यह समझता हुआ, निःसन्देह ऐसे माने कि मैं कुछ नहीं करता हूँ।" अर्थात् जिसका अन्तःकरण वश में है, ऐसा ज्ञानयोगी निर्लेप रहता हुआ नवद्वारों वाली इस अयोध्या नामक पुरी में सुख से निवास करता है।[xvii] वस्तुतः आत्म-ज्ञान के द्वारा जिनके अन्तःकरण का अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान मार्त्तण्ड के सदृश उस सच्चिदानन्द परमात्म-तत्व को प्रकाशित करता है, अर्थात् यथार्थ-तत्त्व को प्रकाशित कर देता है;[xviii] क्योंकि मनुष्य अज्ञान के कारणभूत आत्मा-परमात्मा के विषय में भ्रमित रहता है। अतः ज्ञान रूपी तलवार से जिसने समस्त संशयों का छेदन कर दिया हो, ऐसा ज्ञानयोगी विलक्षण होता है।

गीता में ज्ञान योगियों को आत्म-संयमी कहा गया है, वह अभिमान, दम्भ, छल, कपट से रहित होता है। गुरु-शुश्रुषा, अहिंसा, क्षमा, सरलता तथा मनस्तत्त्व की शुद्धता व स्थिरता ज्ञानयोगी के गुण हैं।[xix] ज्ञानयोगी

वैराग्यवान, अहंकार-शून्य, संसार में जन्म तथा मृत्यु, वृद्धावस्था, राग-द्वेष और सुख-दुःख आदि दोषों को देखकर कार्य करता है।xx ज्ञानयोग के साधक अनासक्त होते हैं। 'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ' के विवेक के द्वारा मनुष्य में ज्ञान की जिस अवस्था का उदय होता है, उसका वर्णन ऊपर किया गया है। 'ज्ञानावस्था' तथा 'अज्ञानावस्था' के विषय में गीता कहती है कि "विनम्रता, ईमानदारी, अहिंसा, क्षमा, सरलता, बड़ों की सेवा, स्थिर बुद्धि, आत्म-संयम, वैराग्य, अनासक्ति, मोह व ममता में न फंसना, समचित्तता, एकान्तवास और ईश्वर में मग्न रहना आदि; ये सभी 'ज्ञान' की अवस्था है तथा घमण्ड, छल-कपट, हिंसा, ईर्ष्या-द्वेष, असहिष्णुता, चंचल बुद्धि, इन्द्रियों के भोग, लम्पटता, आसक्ति, मायामोह, व्याकुलता, जनसमुदाय या जमघट के बिना दिन न लगना तथा संसार में फंसे रहना, ईश्वर से विमुखतान आदि; ये सभी 'अज्ञान' की अवस्था है।"xxi उपरोक्त 'ज्ञानावस्था' तथा 'अज्ञानावस्था' के वर्णन के उपरान्त भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि "मनुष्य के लिए 'ज्ञेय' क्या है? जिसे जानकर वह अमृत हो जाता है, अरे वही तो 'ज्ञेय' है। वह है- अनादि परब्रह्म जिसके विषय में यह कह सकते हैं कि वह न सत् है और न यह कह सकते हैं कि वह असत् है।"xxii वस्तुतः 'पिण्ड' अर्थात् शरीर में आत्मा ज्ञेय है तथा ब्रह्माण्ड में परमात्मा ज्ञेय है। इस आत्म-तत्त्व के द्वारा उस परमात्म-तत्त्व (परब्रह्म) रूपी ज्ञेय को ही प्राप्त करना है। वह ज्ञेय कैसा है ,उसका वर्णन करते हुए कहा कि "सर्वत्र उसके हाथ पैर हैं, सर्वत्र ही उसके नेत्र, शिर, मुख और कान हैं; वह इस जगत् में सबको व्याप्त किये हुए हैं।xxiii वह सब इन्द्रियों को उनके विषय का ज्ञान कराने वाला होने पर भी इन्द्रिय रहित है, आसक्ति रहित होने पर भी सबको धारण किये हुए है और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग करने वाला है।xxiv वह भूतों के बाहर है और अन्दर भी है, वह चल है और अचल भी है। वह दूर है और पास भी है; वह सूक्ष्म है, इसलिए अविज्ञेय है,xxv उसे जाना नहीं जा सकता है। वह स्वयं अखण्डित है, परन्तु सब भूतों में मानों खण्डित होकर बैठा है। वह सभी प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला है। उन्हें ग्रस जाने वाले हैं और उन्हें नये सिरे से फिर उत्पन्न करने वाला है। अर्थात् पोषण, नाश और उत्पन्न करने वाला वही है।xxvi वह ज्योतियों का भी ज्योति है, तेजवालों का भी वही तेज है, वह अन्धकार से परे है। वही ज्ञान है, वही ज्ञेय (जानने योग्य) है और वही ज्ञानगम्य (ज्ञान से पहचाना जाने वाला) भी है, वही सबके हृदय में अधिष्ठित है।"xxvii

अतः उक्त वर्णन से क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय के विषय का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसको जानकर मेरा भक्त (ज्ञानयोगी) मेरे भाव (परब्रह्म) को प्राप्त होता है।xxviii इसी प्रकार प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कारxxix के शब्दों में कहा जा सकता है कि- "गीता में द्वितीय अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' का, तथा द्वादश अध्याय में 'त्रिगुणातीत' का जो वर्णन किया गया है, वह सब एक-सा है; जिसका अभिप्राय यही है कि पूर्णता की स्थिति अर्थात् कैवल्य को किसी भी मार्ग से पाया जा सकता है। सभी मार्ग उसी ब्रह्म अर्थात् कैवल्य को प्राप्त करने की तरफ जाते हैं।"

2.0 निष्कर्ष

निष्कर्षतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस समय से मानव ने तर्क-शक्ति के प्रयोग से विचार प्रारम्भ किया, उसी समय से उसका लक्ष्य यही रहा कि वह कष्टों की निवृत्ति करके किसी न किसी रूप में परम सुख अर्थात् कैवल्य की प्राप्ति करे। वेदों से प्रारम्भ होकर आधुनिक दर्शन तक ही नहीं, मानव की इस प्रवृत्ति के दर्शन सामान्य जीवन में भी होते हैं। सामान्य मनुष्य की विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक क्रियाओं का लक्ष्य जाने-अनजाने में उसके कष्टों की निवृत्ति ही है।

3.0 संदर्भ

[i] पातञ्जलयोगदर्शन – 01/02
[ii] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 03/07
[iii] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 02/18
[iv] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 02/28
[v] पातञ्जलयोगदर्शन – 02/28
[vi] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 14/02
[vii] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/38
[viii] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/39
[ix] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/40
[x] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/41
[xi] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/42
[xii] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/33
[xiii] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/34
[xiv] त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद् – 02/20 (उत्तरार्ध)
[xv] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/91
[xvi] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 04/19
[xvii] श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषार्थबोधिनी टीका – 05/08
[xviii] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 05/09 तथा 05/12
[xix] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/07 की व्याख्या
[xx] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/08
[xxi] श्रीमद्भगवद्गीता, शांकर भाष्य, पृष्ठ – 323
[xxii] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/12
[xxiii] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/13
[xxiv] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/14
[xxv] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/15
[xxvi] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/16
[xxvii] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/17
[xxviii] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/18
[xxix] श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य – 13/19